International Journal of Multidisciplinary Research and Development
Online ISSN: 2349-4182 Print ISSN: 2349-5979
www.allsubjectjournal.com
Volume 2; Issue 11; November 2015; Page No. 141-143

आभीय सूत्र विमर्श

प्रवीन शर्मा

शोध छात्र, संस्कृत विभाग, म.द.वि., रोहतक

असिद्धवदत्राभात् 6.4.22

अर्थ – यहां से लेकर पाद की समाप्ति पर्यन्त शास्त्र असिद्धवत् होगा।

इस सूत्र में तीन पद प्रयुक्त हैं। पहला 'असिद्धवत्', दूसरा 'अत्र' व तीसरा पञ्चम्यन्त 'आभात्' अब प्रत्येक पद का विवेचन करते हैं। पहला पद है 'असिद्धवत्' यहां पर 'असिद्ध' शब्द से समानार्थक 'वत्' अव्यय किया गया है। 'असिद्ध' पद का विश्लेषण महर्षि पतञ्जलि इस प्रकार करते हैं ''असिद्धवचनमुत्सर्गलक्षणभावा–र्थमादेशलक्षणप्रतिषेधार्थञ्च।''[1]

अर्थात् असिद्ध वचन उत्सर्ग (स्थानी) लक्षण के भाव व आदेश लक्षण के प्रतिषेध हेतु किया गया है। यह पद उत्सर्ग पक्ष में स्थानित्व को सिद्ध करता है व किए गए शास्त्रीय कार्य को असिद्ध करता है। आदेश पक्ष में यह स्थिति विघातकों का निवारण करता है। आदेश लक्षण का अर्थ ही इस प्रकरण में आदेशादि सभी स्थितिविघातक कार्य हैं। इस स्पष्टीकरण का कारण आगे उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जाएगा।

दूसरा पद है 'अत्र'। इस पद में निमित्त सप्तम्यन्त से 'त्रल्' प्रत्यय हुआ है। इससे यहां समानाश्रयत्वार्थ की प्राप्ति होती है। समानाश्रय से तात्पर्य है कि पहले सूत्र के द्वारा किया गया विधान और दूसरे सूत्र की प्राप्ति का हेतु एक ही होना चाहिए। यदि ये दोनों भिन्न होंगे तो सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा।

तीसरा पद है 'आभात्'। इस पद में 'आङ्' उपसर्ग अभिविधि अर्थ में है। अतः यह 'भ' पर्यन्त को भी समाहित कर लेगा। 'भ' शब्द की प्राप्ति 'भस्य 6.4.129 सूत्र से होती है। यह एक अधिकार सूत्र है जिसका अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त चलता है। अतः इस सूत्र की अवधि भी पाद की समाप्ति तक रहेगी। इस अवधि में 153 सूत्र आते हैं। इन सूत्रों को ''आभीय सूत्र'' कहते हैं। इस पूरे प्रकरण को 'आभीय क्षेत्र' व इसमें किए गए कार्यों को ''आभीय कार्य'' कहा जाता है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि यहां असिद्धवदत्राभात् 6.4.22 से लेकर पाद की समाप्ति पर्यन्त किए गए आदेशादि कार्य जो कि स्थिति के विघातक हों दूसरे आभीय सूत्र के कार्य करने में असिद्धवत् होते हैं।

अब प्रत्येक पद की उपयोगिता स्पष्ट की जाएगी। असिद्ध कहने का प्रयोजन 'जहि' पद में हर्न्तेजः 6.4.36 सूत्र के द्वारा किए गए 'हन्' धतु को 'ज' आदेश का अतो हेः (6.4.105) सूत्र से प्राप्त 'हि' लुक् की दृष्टि में असिद्ध करना है तथा स्थानी 'हन्' भाव को सिद्ध करना है। आदेश–लक्षण का अर्थ यहां पर दध्किाकन्याय से आदेशादि सभी स्थिति विघातक कार्य लिए जाऐगें अन्यथा शामिता/शमिता सिद्धि में 'स्यसिच्सीयुट्तासिषु (6.4.62) से किया गया चिण्वद् भाव भी 'इडागम' की तरह चिण्णमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम्' (6.4.93) की दृष्टि में असिद्ध हो जाएगा।

'अत्र' पद का प्रयोजन पूर्व में कृत आभीय कार्य व बाद में उपस्थित कार्य के कारण का एक होने से है। यदि ये दोनों भिन्न होंगे तो असिद्ध भाव नहीं होगा। यथा 'पपुष' पद में प+पा+वस् (लिट्) ऐसी स्थिति आने पर 'वसोः सम्प्रसारणम्' (6.4.131) सूत्र से सम्प्रसारण किया गया। तब प+पा+उस् स्थिति में 'आतो लोप इटि च' (6.4.64) से किया जाने वाला लोप असिद्ध नहीं होगा क्योंकि पूर्व सूत्र से प्रत्यय को उत्त्वादेश किया गया है तथा दूसरे सूत्र की उपलब्धि का कारण प्रत्यय का 'कित्' होना है न कि अजादि होना। अतः लोप होकर 'पपुषः' पद सिद्ध होगा।

'आभात्' कहने का प्रयोजन अन्य सूत्रों का निराकरण करना है ताकि 'अभाजि' पद में भञ्जेश्चिणि (6.4.33) से किया गया लोप 'अत उपधयाः (7.2.116) की दृष्टि में असिद्ध न हो जाए।

इस प्रकारण में 'असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे, परिभाषा भी कार्य नहीं करती है क्योंकि यह परिभाषा आभीय क्षेत्र के अन्तर्गत ही है।

वार्तिक

''वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ भवत इति वक्तव्यम्''।

व्याख्या – 'वुक्' व 'युट्' आगम 'उवङ्' व 'यण्' करने में असिद्ध होते हैं। बभूव पद में वुगागम –

भुवोवुक्लुङ्लिटो (6.4.88) सूत्र से होता है जोकि आभीय सूत्र है। यह कार्य (वुगागम), अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (6.4.77) की दृष्टि में आभीय होने के कारण असिद्ध है। जिसके कारण यहां बभूव पद में 'उवङ्' प्राप्त है जिसका प्रकृत वार्तिक से निषेध किया गया है।

चिणो लुक् 6.4.104

इस सूत्र में पञ्चम्यन्त 'चिणो' व प्रथमान्त 'लुक्' पद पठित हैं। पञ्चमी से निर्दिष्ट होने के कारण 'चिणो' पद किसी स्थानी षष्ठ्यन्त पद का अनुमान कराता है। यह क्या है इसके विषय में भिन्न मत हैं। महाभाष्यकार यहाँ पर 'त' शब्द का लुक् मानते हैं।[2] काशिकाकार[3], व आचार्य भीम सेन शास्त्री[4] यहाँ प्रत्यय का 'लुक्' स्वीकार करते हैं। आचार्य भीम सेन शास्त्री यहाँ पर 'अङ्ग' के अधिकार के कारण यहाँ पर 'प्रत्यय' की उपस्थिति आवश्यक कहते हैं।[5] किन्तु आचार्य पाणिनि ने स्वयं अपने शास्त्र में 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' 1.1.60 सूत्र में इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है, कि जब 'लुक्', 'श्लु' या लुप् कह कर कोई कार्य किया जाएगा तो वह प्रत्यय के स्थान पर होगा। अतः यहाँ पर प्रत्यय का लुक् होना प्रमाणित हुआ। उदाहरण यथा अकारि, अहारि इस सूत्र के उदाहरण हैं।

अतो हेः 6.4.105

इस सूत्र में पञ्चम्यन्त 'अतो' व षष्ठ्यन्त 'हेः' पद पठित हैं। पूर्व सूत्र से यहाँ 'लुग्' पद अनुवृत हो रहा है। अब इस सूत्र का अर्थ बनता है कि अदन्त अङ्ग से परे 'हि' का लुक् होता है। पठ, पच तपरकरण यहाँ 'आकार' के व्यावर्तन के लिए किया गया है। ताकि लुनीहि, पुनीहि पदों 'ई हल्यघोः' 6.4.113 सूत्र से किया गया 'ई' भाव असिद्ध होकर यहाँ भी लुक् प्राप्त न हो जाए। अतः यहाँ पर तपरकरण किया गया है।

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् 6.4.106

इस सूत्र में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। यहाँ पूर्व सूत्रों से 'हेर्लुक्' की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि असंयोगपूर्व जो प्रत्यय का उकार, वह है अन्त में जिसके उस अघ्ग से परे 'हि' का लुक् होता है। यथा – चिनु, सुनु इत्यादि। इस सूत्र में 'प्रत्ययाद्' पद का ग्रहण युहि, रूहि में लुक् का निर्वतन करने के लिए किया गया है।

इस सूत्र पर आचार्य कात्यायन ने 'उतश्च प्रत्ययाच्छन्दोवावचनम्' वार्तिक किया है। आचार्य पतञ्जलि इस वार्तिक का पाठ 'उतश्च प्रत्ययाहरन्दोवावचनात्' ऐसा पाठ माना है।[6] किन्तु पाठ भेद से अर्थ भिन्नता नहीं बताई गई है। इस वार्तिक का अर्थ है कि पूर्वोक्त कार्य वेद के विषय में विकल्प से होना चाहिए। यथा – धिनुहि यज्ञपतिम्, तेन मा भगिनं कृणु इत्यादि।[7]

लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः 6.4.107

इस सूत्र में प्रथमान्त 'लोपः', 'च' ओर 'अन्यतरस्यां' पद अव्यय तथा 'म्वोः' सप्तम्यन्त पढ़े गए हैं। यहाँ पर 'उतश्चप्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' पद षष्ठ्यन्त हो गया है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि असंयोगपूर्वक उकार है अन्त में जिसके ऐसे प्रत्यय का विकल्प से लोप होता है वकारादि व मकारादि प्रत्यय परे रहने पर यद्यपि पूर्व सूत्र से 'लुक्' की अनुवृति आ रही है फिर भी 'लोपः' पद का ग्रहण अन्त्य वर्ण के लोप के लिए किया गया है। अन्यथा 'लुक्' करण से सम्पूर्ण प्रत्यय का अदर्शन हो जाता। उदाहरण यथा – सुन्वः, सुनुवः, सुन्मः, सुनुमः इत्यादि इस सूत्र के उदाहरण हैं।

नित्यं करोतेः 6.4.108

इस सूत्र में प्रथमान्त 'नित्यं' व षष्ठ्यन्त 'करोतेः' पद का पाठ किया गया है। पूर्व से यहाँ पर 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' पद जो कि षष्ठ्यन्त होकर 'उतरश्च प्रत्यस्यासंयोगपूर्वस्य' ऐसा बन रहा है, कि अनुवृत्ति आ रही है। तथा 'म्वोः' पद भी अनुवृत्त है। 'नित्यं' पाठ से 'अन्यतरस्याम्' की निवृत्ति हो गई है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि 'कृ' धतु से उत्तरवर्ती प्रत्यय के उकार का नित्य लोप होता है मकारादि तथा वकारादि प्रत्यय परे हो तो। यर्था कुर्वः कुर्मः इत्यादि इस सूत्र के उदाहरण हैं।

ये च 6.4.109

यह सूत्र पूर्वोक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर यकारादि प्रत्यय परे रहने पर भी प्रत्यय के उकार का लोप करता है यथा कुर्यात्, कुर्याताम् व कुर्युः।

अत उत् सार्वधातुके 6.4.110

इस सूत्र में 'अत' पद षष्ठ्यन्त, 'उत्' पद प्रथमान्त तथा 'सार्वधातुके' पद सप्तम्यन्त पढ़ा गया है। पूर्व सूत्र से 'करोतेः', 'उत', 'क्ङिति' पद की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि 'कृ' धतु के अकार को 'उत्' आदेश होता है सार्वधातुक कित्, ङित् प्रत्यय परे रहने पर। यथा कुरूते, कुरूतः इत्यादि।

इस सूत्र पर आचार्य कात्यायन ने 'स्यान्तस्य प्रतिषेधः' ऐसा वार्तिक किया है। आचार्य पतञ्जलि ने 'कृञा उत्त्व उकारान्त निर्देशात् स्यान्तस्या प्रतिषेधः' भाष्य करके उपरोक्त वार्तिक का निराकरण किया है।

श्नसोरल्लोपः 6.4.111

इस सूत्र का विग्रह है श्न + असोर् + अत् + लोपः। इसमें से 'श्नसोर्' पद षष्ठ्यन्त, 'अल्लोपः' पद प्रथमान्त है। पूर्व सूत्र से यहाँ पर 'सार्वधातुके' तथा क्ङिति' पद की अनुवृति आ रही है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि श्नम् प्रत्यय तथा 'अस्' धतु के अकार का लोप होता है सार्वधातुक ङित् या कित् प्रत्यय परे रहने पर। यहाँ पर श्न + असोः में पररूप काशिकाकार के मत में 'शकन्ध्वादिषुपररूपं वाच्यम्' से होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि यहाँ पर किए गए तपर–करण को व्यर्थ मानते हैं।[9]

मघवा बहुलम्

इस सूत्र में 'मघवा' तथा 'बहुलम्' दो पद पढ़े गए हैं। यहाँ पूर्व सूत्र से 'तृ' पद की अनुवृति आ रही है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि मघवत् अङ्ग को बहुलता से 'तृ' आदेश होता है। यथा मघवान्, मघवा।

आचार्य कात्यायन ने इन दोनों सूत्रों के विषय में 'आर्वणस्त्र मधोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्' एवं 'मतुब्वन्योर्विधानाच्च' ये दो वार्तिक लिखे हैं। इन वार्तिकों के द्वारा आचार्य कात्यायन इन पूर्व सूत्रों की उपयोगिता को नकारते हैं। पूर्व वार्तिक का अर्थ है कि 'अर्वणस्त्रसावनञाः' 6.4.127 तथा 'मघवा बहुलम्' 6.4.128 ये दोनों सूत्र नहीं कहने चाहिए। क्योंकि ये शब्द 'अर्वत्' तथा मध्वन् शब्द वैदिक हैं। 'मतुब्बन्योर्विधनाच्च' वार्तिक का अर्थ है कि 'मतुप्' (मध्वन्) तथा 'वन' (अर्वन्) प्रत्ययों के विधान से भी यही स्पष्ट होता है कि इन सूत्रों का वेद विषयक होने से अनुशासन नहीं करना चाहिए। किन्तु आचार्य पतञ्जलि इस विषय में व्याकरण अनुशासन का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'अथ शब्दानुसाशासनम्' 'अथ इत्येयं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानाञच।'[10] अर्थात् अब शब्दानुशासन करना चाहिए। 'अथ' शब्द यहाँ अधिकार का वाचक है। 'इति' शब्द इसके अर्थ के अवस्थापन के लिए पढ़ा गया है। शब्दानुशासन का मतलब अधिकृत शास्त्र है। किन शब्दों का अनुशासन करना चाहिए? लौकिक शब्दों का तथा वैदिक शब्दों का। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि किए गए वार्तिक अनपेक्षित हैं। किन्तु आचार्य पतञ्जलि के द्वारा कहा गया समाधान सामान्य प्रतिज्ञा है तथा आचार्य कात्यायन के द्वारा कहा गया निषेध विशिष्ट है। उनके मत में 'छान्दसं' पद से तात्पर्य केवल वैदिक संहिताएं हैं और 'वैदिकानाम्' पद से तात्पर्य सकल वैदिक साहित्य है। अतः उत्सर्गापवाद न्याय से यह केवल संहिता भाग वैदिक विभाग से अलग हो सकता है। किन्तु आचार्य पतञ्जलि व्याकरण शास्त्र के मुख्य प्रयोजनों का वर्णन करते हुए जब 'रक्षा' नाम के प्रयोजन को व्याख्यात करते हैं तब कहते हैं – 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागम वर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति।' अर्थात् हमें वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए लोप–आगम–वर्णविकार का ज्ञाता ही सम्यग् रूप से वेदों का पालन कर सकेगा। और यदि वेदों को व्याकृत नहीं किया जाएगा तो लोपादि प्रक्रियाओं का ज्ञान कैसे हो सकेगा इसलिए आचार्य पाणिनि का इन सूत्रों का प्रणयन करना आवश्यक था।

शोधकर्ता के विचार में यहाँ पर तीनों आचार्यों की धर्मिक पृष्ठभूमि भी विचारणीय है। आचार्य पतञ्जलि और आचार्य कात्यायन निश्चित रूप से वैदिक धर्मानुयायी हैं। किन्तु कुछ विद्वान् आचार्य पाणिनि को बौद्धमतानुयायी स्वीकार करते हैं। किन्तु यह पुष्ट प्रमाणों से प्रमाणित नहीं है। यहाँ पर एक तथ्य और भी विचारणीय है कि आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण ग्रन्थ की रचना माहेश्वर सम्प्रदाय के अन्तर्गत की है जबकि अन्य बौद्धमतावलम्बी आचार्य ऐन्द्र परम्परा के अनुसार ही व्याकरण ग्रन्थों की रचना करते हैं।

भस्य 6.4.129

इस सूत्र में षष्ठ्यन्त भस्य पद पढ़ा गया है। अधिकार सूत्र है। अब इसके आगे जितने भी कार्य किए जाएगें वे पाद की समाप्ति पर्यन्त 'भ' संज्ञकों के स्थान में ही किए जाएगें। पूर्व से 'अङ्गस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'भस्य' पद अङ्गस्य पदका विशेषण बन जाएगा। अब इस सूत्र का अर्थ होगा कि 'भस्य' 6.4.129 से पाद की समाप्ति तक जितने भी कार्य किए जाएगें वहां पर 'भस्य' और अङ्गस्य

पद उपलब्ध रहेंगे। काशिकाकार इस सूत्र का प्रयोजन कहते कि वक्ष्यति – 'पादःपत् (6.4.130) – द्विपदः पश्य द्विपदा कृतम्। भस्येति किम्? द्विपादौ, द्विपादः।'[5] अर्थात् देखेंगे – पादःपत् (6.4.130) सूत्र से भसंज्ञकों के 'द्विपदः पश्य' आदि रूप बन रहे हैं। अन्यथा द्विपादौ, द्विपादः रूप बनते हैं।

पादः पत् 6.4.130

इस सूत्र में 'पादः' पद षष्ठ्यन्त तथा 'पत्' पद प्रथमान्त पढ़ा गया है। यहाँ पर 'पाद्' शब्द लुप्ताकार वाला पढ़ा गया है। इस सूत्र में पूर्व से 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' पद अनुवृत्त हो रहे हैं। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनताहै कि 'पाद्' शब्द है अन्त में जिसके ऐसा जो भसंज्ञक अङ्ग, उस अङ्ग को 'पत्' आदेश हो। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (परि.12) के निर्देशानुसार यह आदेश केवल 'पाद्' शब्द के स्थान में ही होगा। यथा द्विपदः पश्य। यहाँ पर 'यचि भम्' से 'भ' संज्ञा होकर रूप बनेगा।

वसोः सम्प्रसारणम् 6.4.131

इस सूत्र में 'वसोः' पद षष्ठ्यन्त तथा 'सम्प्रसारणम्' पद प्रथमान्त पढ़े गए हैं। यहाँ 'भस्य' व 'अघ्गस्य' पद की अनुवृति आ रही है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ बनता है कि 'वसु' प्रत्यय है अन्त में जिसके ऐसा जो भसंज्ञक अङ्ग, उसको सम्प्रसारण होता है। यथा विदुषः पश्य। यहाँ पर 'भ' संज्ञा तसौ मत्वर्थे (1.4.19) सूत्र से होगी।

वाह ऊठ् / वाह ऊट् 6.4.132

इस सूत्र का पहला पाठ काशिकाकार के मत में है[11] तथा दूसरा पाठ महाभाष्यकार के मत में है[12] काशिकाकार 'ऊठ्' पाठ को 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे (परि. 50) परिभाषा के ज्ञापन के लिए मानते हैं। किन्तु इस 'सम्प्रसारण' जिसका अर्थ पूर्व सूत्र से आ रहा है को ठित् करने का कोई प्रयोजन काशिकाकार ने स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु आचार्य पत×जलि इस विषय में स्पष्ट करते हैं – 'ऊटादिः कस्मान्न भवति? आदिष्टिद् भवतीत्यादिः प्राप्नोति। सम्प्रसारणमित्यनेन यणः स्थानं क्रियते'। अर्थात् ऊट् किए जाने वाले अर्थात् 'वाह' के आदि में क्यों नहीं हो रहा है? 'टित्' आदि में होते हैं यह प्राप्त हो रहा है। तो इसका उत्तर देते हुए पतञजलि कते हैं कि 'सम्प्रसारण' पद ने 'यणः' पद का स्थान ले लिया है अतः उसका आद्यवव ऊट् नहीं किया जा सकता। इसके समर्थन में वे इष्टि करते हुए कहते है कि – 'वाह ऊऊवचनाऽऽनर्थक्यं सम्प्रसारणेन कृतत्वात्।' अर्थात् वाह् को 'ऊट्' वचन अनर्थक है सम्प्रसारण के द्वारा करने से उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि आचार्य पतञजलि यहाँ 'ऊट्' पाठ स्वीकार करते हैं। भले ही उसे अनर्थक माना है। अब इस सूत्र के अर्थ तत्त्व पर विचार करते हैं। यहाँ 'वाह' पद षष्ठ्यन्त है तथा 'ऊट्' या 'ऊठ्' पद प्रथमान्त है। पूर्व सूत्र से 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' पद की अनुवृत्ति आ रही है। इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है भसंज्ञक 'वाह्' को 'ऊट्' सम्प्रसारण होता है – यथा प्रष्ठौहः।

श्वयुवमघोनामतद्धिते 6.4.133

इस सूत्र में दो पद पढे गए हैं। पहला पद 'श्वयुवमघोनाम्' षष्ठ्यन्त है तथा दूसरा पद 'अतद्धिते' नकारात्मक सप्तम्यन्त है। पूर्व से यहाँ पर 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' इन दो पदों की अनुवृति आ रही है। इस सूत्र का अर्थ करते हुए आचार्य पतञजलि इष्टि करते हैं श्वादीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम्। अर्थात् श्वादिदियों के सम्प्रसारण करने में नकारान्तो का ग्रहण अनकारन्तो के प्रतिषेध के लिए किया गया है। अब इस सूत्र का अर्थ करते हैं। श्वन्, युवन् व मघवन् भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है तद्धित भिन्न प्रत्यय परे रहने पर। यथा शुनः, यूनः, मघोनः इत्यादि इस सूत्र के उदाहरण हैं।

महाभाष्यकार पतञजलि अपनी दृष्टि के निवारण के लिए अग्रिम सूत्र अल्लोपोऽनः 6.4.134 का योग विभाग भी करते हैं। इस प्रकरण में महाभाष्यकार दोनों सूत्रों को मिलाकर 'श्वयुवमघोनामतद्धितेऽल्लोपाऽनः' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं तथा इस इस स्थिति में 'श्वयुवमघेनामतद्धिते', 'अल्लोपः' तथा 'अनः' ऐसा योग विभाग करते हैं जिसमें 'अनः' पद का पूर्व के दोनों पदो के साथ अन्वय हो जाएगा।

संदर्भ सूची

1. व्याकरणमहाभाष्यम्, हरिनारायण तिवारी, पृ.सं. 619
2. व्याकरण महाभाष्य, हरिनारायण तिवारी, पृ.सं. 729
3. काशिका, रघुवीर वेदालङ्कार, पृ.सं. 535
4. लघु सि. कौमुदी, भीम सेन शास्त्री, पृ.सं. 437
5. काशिका, रघुवीर वेदालङ्कार, पृ.सं. 536
6. काशिका, रघुवीर वेदालङ्कार, पृ.सं. 536
7. वही, पृ.सं. 106
8. व्याकरण महाभाष्यम्, हरिनारायण तिवारी, पृ.सं. 751
9. वही, पृ.सं. 3
10. वही, पृ.सं.
11. काशिका, रघुवीर वेदालङ्कार, पृ.सं. 546
12. व्याकरण महाभाष्यम्, हरिनारायण तिवारी, पृ.सं. 759